

क्या हम स्वतंत्र है ?

आचार्य महाप्रज्ञ

आज पन्द्रह अगस्त है, स्वतन्त्रता दिवस है। यह भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण दिन है। 'स्वतंत्रता' एक प्रिय शब्द है। कोई भी व्यक्ति परतंत्र रहना नहीं चाहता। एक व्यक्ति ने किसी बहेलिये से एक तोता खरीदा। बड़ा आदमी था, इसलिए उसने तोते को सोने के पिंजरे में रखा। वह तोता बहुत सुन्दर था और आदमी की भाषा में बोलता था, किन्तु पिंजरे में बन्द होने पर वह उदास रहने लगा। मालिक ने कहा –“तोता! तुम चुप क्यों रहने लगे, कुछ तो बोलो।”

तोता दुःखी मन से बोला – “वन का पंछी पिंजरे में बंदी है क्या बोले ?”

मालिक ने कहा— “स्वयं को बन्दी क्यों कहते हो ? जरा देखों कहां हो तुम ? मनुष्य को मिट्टी और पत्थर का घर भी बड़े भाग्य से, बड़े परिश्रम और पुरुषार्थ से मिल पाता है। तुम तो सोने के घर में हो। तुम्हें अपने भाग्य की सराहना करनी चाहिए। तुम्हारे कुल के दूसरे पक्षियों को पेड़ों की डाल पर बसेरा करना पड़ता है। तुम निश्चय ही बड़े भाग्यशाली हो, तभी यह स्वर्णगृह तुम्हें सुलभ हुआ है।”

तोता बोला— “यह सोने का है, पर मुझको इसकी चाह नहीं है।”

मालिक – “क्यों नहीं है।”

तोता— “बंधन मुझे प्रिय नहीं लग रहा है। आगे की कोई राह दिखाई नहीं दे रही है।”

बंधन आखिर बंधन है। देश को स्वतंत्रता मिली, किन्तु जो गांधीजी चाहते थे, वह स्वतंत्रता नहीं आई। राजनीतिक लोग जो चाहते थे, वह स्वतंत्रता जरूर मिल गई है। जब तक देश स्वतंत्र नहीं था, बहुत सारे लोग ऐसे लगते थे कि ये देश के लिए बलिदान करने वाले हैं, किन्तु जैसे ही देश स्वतंत्र हुआ और सत्ता हाथ में आई, स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने वाले कितने ही लोग फिसल गए। उनकी वर्षों की अतृप्त कामना जाग गई। चारित्रिक स्वतंत्रता और आध्यात्मिक स्वतंत्रता की बात भी गौण हो गई। केवल भौतिक आकांक्षा सिंहासन पर आकर बैठ गई। ऐसी स्थिति में बड़ा जटिल प्रश्न है कि स्वतंत्रता दिवस मनाने का जो एक उत्साह, जो उल्लास होना चाहिए, वह कैसे हो सकता है?

हमने अहिंसा यात्रा के दौरान उन लोगों को देखा जो स्वतंत्रता और परतंत्रता शब्द का मतलब भी नहीं जानते। उन्हें पता ही नहीं कि स्वतंत्रता किसे कहते हैं और परतंत्रता किसे कहते हैं ? उनका सारा समय और सारा श्रम दो समय की रोटी के जुगाड़ में ही बीत जाता है। वह भी पूरी नहीं मिलती है। उन्हें और उनके बच्चों को कभी-कभी भूखे ही सोना पड़ता है। हमने उनसे पूछा कि दो समय का भोजन भी नहीं मिल पाता है तो उस समय आप क्या करते हो? उन्होंने कहा— “महाराज, बस ऐसे ही डांटकर, मारकर या पुचकारकर सुला देते हैं।”

ऐसे लोगों के लिए स्वतंत्रता का क्या अर्थ हो सकता है ? उनके लिए कैसी स्वतंत्रता और कैसी परतंत्रता ? सदियों से वे जैसे थे, वैसे ही आज भी हैं।” दिल्ली पर कौन राज करे कौन न करे उनको इससे क्या मतलब ?

स्वतंत्रता के साथ भौतिक विकास बढ़ा, धन बढ़ा, उद्योग व्यापार के क्षेत्र में प्रगति हुई, किन्तु उसी के साथ-साथ विलासिता भी बढ़ी, अमीरी बढ़ी और इतनी बढ़ी कि अमीरी नग्न होकर सामने आ गई। स्वतंत्रता अपने साथ उच्छृंखलता, उद्वेगता, अनुशासनहीनता, स्वार्थीवृत्ति और अंधानुकरण की बीमारी भी लेकर आई। आज स्वतंत्रता का वह उल्लास कहां रहा, जो पन्द्रह अगस्त 1947 के दिन था।

आचार्य तुलसी भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री वी.वी.गिरि से बात कर रहे थे। बातचीत के दौरान आचार्यश्री ने राष्ट्रपतिजी से कहा— “आजादी के बाद उसका जो लाभ मिलना चाहिए था, वह आज नहीं मिल रहा है।”

राष्ट्रपति श्री गिरि ने कहा— “आचार्यजी ! आप ठीक कह रहे हैं। आजादी मिले पचीस वर्ष हो गए। इतने लम्बे समय में हम देश के सभी लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था भी सुलभ नहीं कर पाए। समाज के दबे-कुचले लोगों को रोटी तक सुलभ नहीं करा सके। इससे बड़ी हमारी और क्या असफलता हो सकती है ?”

सफलता के मापदंड कुछ दूसरे ही हैं। कोई बाहर का मेहमान जब भारत आता है तो उसे वे स्थल दिखाए जाते हैं, जहां उच्च स्तर की तकनीक से बड़ी चीजों का उत्पादन किया जाता है, जहां इस्पात बनाए जाते हैं, जहां हवाई जहाज बनाए जाते हैं, जहां अरबों रुपयों का निवेश हुआ है, जहां से लाखों मेगावाट बिजली का उत्पादन होता है। उन्हें उन होटलों में ठहराया जाता है, जो स्वर्ग जैसी शान-शौकत वाले होते हैं। उन्हें एक अदृभुत लोक के दर्शन कराए जाते हैं और उन्हें बताया जाता है कि यह स्वतंत्र भारत की तस्वीर है। उस दिन दिल्ली के मुख्य मार्गों से भिखारियों को हटा दिया जाता है। इस बात का विशेष प्रबन्ध किया जाता है कि जहां तक उनकी नजर जाए, सब कुछ अच्छा दिखाई दे।

आज ऐसा लगता है कि प्रतिबिंब का जीवन अधिक जिया जा रहा है, उसका मूल्य बढ़ रहा है। एक चित्रकार के मन में कल्पना आई कि मैं गांव की महिला का सुन्दर, ओरिजिनल चित्र बनाऊं। शहर की महिलाओं की सुन्दरता कृत्रिम होती है। कृत्रिम साधनों की एक मोटी परत, चेहरे की स्वाभाविक सुन्दरता को ढक लेती है। उस चित्रकार की इच्छा थी कि गांव की किसी महिला का सहज स्वाभाविक चित्र बनाऊं। गांव का चक्कर लगाने पर उसे एक युवती दिखाई दी, जिसके चेहरे पर प्राकृतिक सुन्दरता थी, प्रकृति का वह सजीव रूप थी। उसने उस तरुणी का चित्र बनाया। उस चित्र को उसने एक प्रदर्शनी में लगाया। उस प्रदर्शनी में कला के पारखी लोग आए। चित्रों की नीलामी शुरू हुई। उस ग्रामीण बाला के चित्र ने सहज ही लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। अन्ततः वह चित्र दस हजार रुपये में बिका।

जिस गांव की वह युवती थी, वहां अकाल पड़ा। भूखे मरने की नौबत आ गई तो लोग गांव छोड़कर शहर की ओर भागने लगे। रोजी-रोटी की तलाश में वह युवती भी अपने परिजनों के साथ शहर में आ गई और संयोग से वहीं आकर उसने आश्रय लिया जहां पंडाल के भीतर वह चित्र प्रदर्शनी लगी थी। प्रदर्शनी के बाहर निकलते ही लोग उसी चित्र की चर्चा कर रहे थे, जो दस हजार रुपये में बिका था। पंडाल के एक कोने में दुबककर बैठी उस युवती ने अपने चित्र को देखा तो उसकी आंखों में आंसू आ गए। कैसी विडम्बना है! उसका चित्र दस हजार रुपये में बिक रहा है और उसको खाने के लिए दस पैस भी कोई देने वाला नहीं है।

प्रतिबिंबों की दुनिया जहां होती है, वहां ऐसा ही होता है। वास्तविकता कहीं ओझल हो जाती है और उसकी छाया मुख्य स्थान पर आ जाती है। जहां प्रतिबिंब का मूल्य अधिक हो जाता है, बिंब की उपेक्षा होती है। वहां ऐसी ही

समस्या होती है। उस समय स्वतंत्रता का जो आनन्द आना चाहिए, जो अनुभूति होनी चाहिए, वह नहीं होती। स्वतंत्रता शब्द वजनदार है। इसलिए स्वतंत्रता के ध्वज को उठाने वाले कंधे भी वजनदार होने चाहिए, हाथ भी मजबूत होने चाहिए। स्वतंत्रता के वाहक वे नहीं बन सकते, जो इसकी महत्ता को नहीं जानते, इसके मूल्य को नहीं जानते, राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व को नहीं समझते, देशभक्ति की भावना जिनके मन में हिलोरें नहीं लेती, जो संवेदनहीन हैं, मानवीय गरिमा का जिन्हें ध्यान नहीं है, जो श्रमपराङ्मुख और स्वार्थी हैं।

त्याग स्वतंत्रता को मूल्य दे सकता है। स्वाधीनता और त्याग दोनों में गहरा संबंध है। जहां त्याग है, वहां स्वतंत्रता है और जहां स्वतंत्रता है, वहां त्याग अनिवार्य रूप से होना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र में बहुत सुन्दर कहा गया— “साहीणे चयइ भोए।” जो स्वाधीन होकर भोग का त्याग करता है, उसका नाम है त्यागी। फिर कहा गया— अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइ ति बुच्चई।” प्राप्त न होने के कारण जो भोग नहीं कर रहा है, वह त्यागी नहीं कहलाता। उसके मन में भोग की लालसा विद्यमान है किन्तु भोग करने में वह असमर्थ है। त्यागी वहीं है, जो स्वाधीन होकर स्वेच्छा से छोड़ देता है। मैं यह मानता हूँ कि भारत की स्वतंत्रता को सार्थक करना है तो त्याग की चेतना को जगाना बहुत आवश्यक है। कोई और दूसरा विकल्प नहीं है।

अहिंसा यात्रा के दौरान भी मैंने अनेक बार कहा कि आज लोग कहते हैं देश में गरीबी की बड़ी समस्या है, जबकि मैं देख रहा हूँ अमीरी की समस्या उससे ज्यादा भयंकर रूप ले रही है। मैं स्पष्ट कहता हूँ कि अमीरी की समस्या गरीबी की समस्या से बहुत ज्यादा खतरनाक है। मैंने समाचारपत्र में एक शीर्षक पढ़ा कि ‘अमीरी तभी सुरक्षित रह सकती है, जब वह गरीबी की चिन्ता करे’ अगर गरीबी की चिन्ता नहीं की तो अमीरी बहुत दिन तक सुरक्षित रहने वाली नहीं है। जो अमीर हैं, संपन्न हैं वे अपने भीतर त्याग की चेतना को जागृत करें और उपयोग की सीमा करें। वे इतनी उपभोग सामग्री न जुटाएं जो किसी के लिए अभाव का कारण बने। जिस देश में लाखों लोगों को सिर छुपाने की जगह न मिल रही हो, वहां भवन को वातानुकूलित और फर्निस्ड करने के लिए करोड़ों रुपये लगा दिए जाएं, वह कोई स्वतंत्र देश नहीं कहा जा सकता। वह तो स्वतंत्रता का दुयपयोग करने वाला देश होगा। जो देश इस बात की स्वतंत्रता देता है, उसका नियम, कानून, विधान दोषपूर्ण है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। जहां असीम भोग की स्वतंत्रता है, वहां भ्रष्टाचार का होना अनिवार्य है।

राष्ट्रपतिजी ने जब भ्रष्टाचार की रोकथाम के लिए उपाय सुझाने की बात कहीं तो मैंने कहा— वर्तमान की व्यवस्था से भ्रष्टाचार पर अंकुश लग सके, इस बात में मेरा विश्वास नहीं है। व्यवस्था के ढांचे को ही पहले बदला जाए। ऐसा होने पर ही इस दिशा में कुछ सफलता प्राप्त की जा सकती है।

जैसे-जैसे उपभोगवादी मनोवृत्ति बढ़ रही है, वैसे-वैसे उपभोग की सामग्री बढ़ रही है। देशी और बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपने व्यवसाय के विस्तार के लिए नये-नये आकर्षक उत्पाद बाजार में ला रही हैं। इस दुष्क्रम में देश की आबादी का कुछ हिस्सा तो शामिल हो सकता है, किन्तु अधिकांश लोगों के मन में एक उग्र प्रतिक्रिया ही पैदा होगी, जिसका विस्फोट एक दिन अनिवार्य रूप से होने वाला है।

स्वतंत्रता की सुरक्षा हम त्याग के बिना नहीं कर सकते, इस बात पर बहुत गहराई से चिंतन करना है। जहां त्याग नहीं होता, केवल बड़प्पन की आकांक्षा होती है। वह आकांक्षा भी काल्पनिक ही है।

मुझे तो आश्चर्य होता है कि आज के जो बड़े नेता हैं और देश को चलाने की जिन पर जिम्मेदारी हैं, वे गंभीरता से इस प्रश्न पर विचार नहीं करते। मैं इस बात को फिर से दोहराना चाहता हूँ कि मुझे ऐसा लगता है जैसे इस राष्ट्र का कोई माता-पिता नहीं है। चुनाव में जीत कर आते हैं और अपना समय पूरा कर या बीच में ही लड़-झगड़कर वापस चल जाते हैं। एक निश्चित कालखंड है, उसमें आए और काम करके चले गए। साहित्य में जो स्थायी भाव की बात कही गई है, वह स्थायी भाव नहीं है। जब तक यह स्थायी भाव नहीं है, तब तक सात्विक और संचारी भार क्या करेगा ? मूल तो स्थायीभाव है जो रस निर्माण करता है। उसके बिना किसी रस का निर्माण नहीं होता।

राष्ट्र के हितों की निरन्तर चिंता करने वाला कोई वर्ग नहीं है। प्रजातंत्र में यह कितना संभव हो सकता है, यह भी कहना कठिन है। पहले राजाओं का शासन रहा। वे अच्छे रहे या बुरे, पर राज्य की चिन्ता वे निरन्तर करते थे। कभी उसमें विच्छेद-व्यवच्छेद नहीं आए। पचास वर्ष तक किसी ने शासन किया तो पचास वर्ष तक उसने अपने राज्य की चिन्ता की और फिर उसका पुत्र उत्तराधिकारी बना तो उस चिन्ता का भार उसने अपने कंधों पर लिया। यह एक निरन्तरता थी। वह निरन्तरता आज कहीं दिखाई नहीं देती। आज की राजनिति तो यह है कि पहले वाले के निर्णय को कैसे और किस प्रकार बदला जाए ? पहले वाले के काम में कितनी कमियाँ और खामियाँ निकाली जाएं। सत्ता में आने के बाद सबका यही नजरिया होता है और उनकी बहुत सारी ऊर्जा और शक्ति इसी काम में खप जाती है। उसके बाद कोई दूसरा आता है तो उसकी भी यही काम हो जाता है। यह क्रम निरन्तर जारी रहता है। कोई किसी की परंपरा का संवाहक नहीं बनता।

यह एक बड़ी समस्या है और इस पर गहन चिंतन की जरूरत है। मुझे लगता है कि इस पर गहरा चिंतन नहीं हो रहा है। हमारी सभाओं और महासभा के जितने भी कार्यकर्ता हैं, उनका यह काम है कि उनमें चिंतन करने वाला एक प्रकोष्ठ होना चाहिए और वह प्रकोष्ठ निरन्तरता वाला होना चाहिए। चुनाव में आने वाले आएंगे, जाएंगे, किन्तु चिंतन का प्रकोष्ठ स्थायी होना चाहिए जो उसकी सदा चिन्ता करता रहे। उनका चुनाव से कोई लेना-देना नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा होता है तो किसी अच्छे और ठोस काम की आशा की जा सकती है।

प्रस्तुति —मुनि जयन्तकुमार